

सिखाना और सीखना-I

ज्ञान और कल्पना

क्रिस्टोफर विंच और जॉन गिंगेल

यह लेख शिक्षण की प्रकृति पर एक नजर डालने से शुरू होता है और सिखाने तथा सीखने के बीच के रिश्ते पर विचार करता है। तर्क दिया गया है कि यद्यपि यह आशा नहीं की जा सकती कि सिखाने का नतीजा हमेशा सीखना ही होगा, शिक्षकों को यह तो दिखाना ही होता है कि वे विद्यार्थियों के सीखने के संबंध में बेपरवाह या असावधान नहीं रहे हैं। एक अर्थ में, सफलता से सीखने का अर्थ है किसी विशेष विषय के अन्तर्गत जिसे ज्ञान माना जाता है, उसके मानदण्डों पर खरा उतरना। इसका यह अर्थ नहीं है कि सीखने का कोई विस्तारपूर्ण सिद्धांत होना जरूरी है। वास्तव में तो इस बात का ही शक है कि ऐसा कुछ होता भी है कि नहीं। यह समझना भी महत्वपूर्ण है कि सीखने में दोनों बातें शामिल हैं - कुछ विशेष कार्य कर सकने के काबिल बन पाना और तथ्यात्मक जानकारी हासिल कर पाना। आवश्यकता इस बात की है कि इनमें से किसी एक पर जरूरत से अधिक बल दिए बिना, सीखने के व्यावहारिक और गैर-व्यावहारिक पक्षों का सन्तुलन बनाया जाए। शिक्षा का सरोकार कल्पना विकसित करने से भी है। लेकिन इसके लिए सफल होने का सबसे बेहतर तरीका रचनात्मकता की किसी संदेहास्पद क्षमता को बढ़ावा देने का नहीं, बल्कि विद्यार्थियों को यह मौका देने का होगा कि वे व्यापक फैलाव लिए हुए सार्थक, लाभप्रद प्रयासों के तहत व्यक्ति-विशेष की उपलब्धियों में काम करती कल्पना को देख पाएं।

शिक्षण की प्रकृति

शिक्षण और ज्ञानार्जन शैक्षिक उद्यम के केन्द्र में हैं। इसीलिए वे गतिविधियां भी इसके केन्द्र में हैं जिनके बारे में हमें आशा रहती है कि वे हमारी शैक्षणिक संस्थाओं का चरित्र-चित्रण करें। इस बात को मान कर चला जाए तो हम यह भी आशा कर सकते हैं कि शिक्षा-दार्शनिकों ने अपने समय और कौशल का इस्तेमाल इन महत्वपूर्ण अवधारणाओं यानी सिखाने और सीखने, को स्पष्ट करने में लगाया होगा। यह आशा सिखाने के संबंध में तो बहुत हद तक संतुष्ट हो जाती है लेकिन स्पष्ट नहीं है कि हम यह बात सीखने के संबंध में भी कह सकते हैं या नहीं। यह असंतुलन इसलिए और भी अधिक हैरान करने वाला है क्योंकि 'सिखाने' से सम्बन्धित अधिकतर विश्लेषण यह मान कर चलते हैं कि 'सिखाना' और 'सीखना' या कहे तो 'पढ़ाने' और 'सीखने', के बीच एक घनिष्ठ संबंध है, फिर वह चाहे तार्किक हो चाहे न हो।

हम न्यूनतम स्तर के कुछ विवादास्पद बिन्दुओं के साथ स्थिति को खोलने से शुरुआत करते हैं। सिखाने के बारे में सब टिप्पणीकार इस बात पर सहमत प्रतीत होते हैं कि इस शब्द की कोई भी सादा व्यवहारवादी परिभाषा नहीं हो सकती (देखें हर्स्ट 1973; शेफ्लर 1973)। इसका अर्थ यह है कि किसी एक उपयुक्त संदर्भ में कई तरह के व्यवहार को हम सिखाने का हिस्सा मान सकते हैं, जिसमें अपने सिर के बल खड़े होना, खिड़की से बाहर देखना, दीवार की ओर इशारा करना जैसी बातें भी शामिल होंगी। सिखाना पूर्ण तौर पर नहीं तो

केन्द्रीय तौर पर (नीचे देखें) एक उद्देश्यपूर्ण गतिविधि है और इस के उद्देश्य के लिए मददगार या बाधा डालने वाले कई तरह के व्यवहार हो सकते हैं।

दूसरे बिन्दु के तहत यह मान कर चला जाता है कि शिक्षक, शिक्षार्थी और जो सिखाया जाना है उसमें, एक त्रिकोणीय रिश्ता है। यह बात सार्वभौमिक नहीं तो व्यापक स्तर पर तो स्वीकारी ही जाती है। जब हम एक ढीले-ढाले से अन्दाज में किसी के बारे में कहते हैं कि वह “गणित पढ़ा रही है” या “उसी पढ़ा रही है” तो हम शिक्षण के एक आवश्यक तत्व को छिपा रहे होते हैं। लेकिन क्षण भर के विचार से ही हम देख पाते हैं कि गणित पढ़ाने में किसी को पढ़ाना शामिल है। यानी एक खाली कक्षा में गणित पढ़ा रहे होने की बात निरर्थक होगी। और उसी पढ़ाने का अर्थ है कि कुछ पढ़ाया जा रहा होगा। कुछ ही समय पहले तक प्रगतिशील या बाल-केन्द्रित शिक्षण का एक मंत्र था कि हम “बच्चे पढ़ाते हैं, विषय नहीं”। यदि ऐसे आदर्श वाक्य का अर्थ हमें बस यह याद दिलाने से था कि हमेशा कोई तो होगा जिसे पढ़ाया जाना है और कुछ है जो पढ़ाया जा रहा है, तो यह हमारे लिए एक उपयोगी बात हो सकती है। लेकिन अगर इसका अर्थ इस आशय का था कि हम बिना किसी विषयवस्तु के भी पढ़ा सकते हैं तो यह आदर्श वाक्य स्पष्ट नहीं रहता।

शिक्षक, शिक्षार्थी और विषयवस्तु के इस त्रिकोणीय रिश्ते को मान कर चलें तो इन तीनों के बीच का यह संबंध कितना नजदीकी है? अगर कोई किसी को कुछ पढ़ा रहा है तो क्या इसका यह अर्थ होना ही होगा कि कोई वह सब सीख ही रहा है जो सिखाया जा रहा है? अगर कोई सीख रहा है तो क्या उन्हें सिखाने वाले किसी शिक्षक का होना आवश्यक है? शिक्षा पर चिन्तन करने वाले विद्वान इन सवालों के जवाबों पर सहमत नहीं हैं। अमेरिका में पहले-पहल जॉन डिवी (1933) द्वारा शिक्षण और सीखना तथा खरीदना और बेचना के बीच सुझाई गई तुल्य रूपता का अर्थ खोलने की कोशिशें की गईं। अगर यह उपमा सही है, तो दोनों तरह के शब्दों के बीच एक तार्किक संबंध होगा। जैसे किसी खरीददार के बिना कुछ बेचना असम्भव है या किसी विक्रेता के बिना खरीदना, उसी तरह सीखने वाला नहीं हो तो सिखाना, या सिखाने वाला न हो तो सीखना भी मुमकिन नहीं होगा। लेकिन यह धारणा सही नहीं है। बिना किसी शिक्षक के सीखना-जानना तो आम बात है, जैसे यह कि आग जलाती है, कि अमुक गली में तीन हरे दरवाजे हैं। और अगर शिक्षकों को यह बताया जाता है कि उनकी कक्षा में उनके द्वारा जो कुछ पढ़ाया गया था, पढ़ने वाले प्रत्येक बच्चे ने वह सभी कुछ नहीं सीख लिया, तब भी अधिकतर शिक्षक अपने इस दावे से मुकरेंगे नहीं कि वे तो पढ़ा ही रहे थे।

शिक्षण का इससे बेहतर एक वृत्तान्त शायद वह है जो सीखने के नतीजे पर सीधे ध्यान केन्द्रित नहीं करता बल्कि सीखने को इरादतन नतीजे के तौर पर देखता है। यानी शिक्षण एक ऐसी गतिविधि है जिसका इरादा या उद्देश्य सीखने तक ले जाना है (देखें हर्स्ट एवं पीटर्स 1970; शेफ्लर 1973)। लेकिन ऐसा मापदण्ड स्वयं अपने दम पर इस बात की गारण्टी के लिए पर्याप्त नहीं है कि शिक्षण हो जाएगा। उदाहरण के लिए, यह मापदण्ड दो तरह के व्यक्तियों के बीच अन्तर नहीं करेगा एक, जो सिखाने की कोशिश तो कर रहा है लेकिन इसमें असफल रह जाता है तथा दूसरा वह जो वास्तव में सिखा रहा है। इस अन्तर के चलते इस दरार को भरने के लिए विभिन्न तरह के सुझाव आए हैं। हर्स्ट एवं पीटर्स ने सुझाया कि किसी सांकेतिक मापदण्ड को जोड़ा जाए, ताकि यह पता चल सके कि सिखाने का इरादा रखने वाला शिक्षक विषयवस्तु के साथ कुछ न कुछ कर रहा है - उदाहरण के लिए, विषयवस्तु पर लेक्चर देना, उसे प्रदर्शित और चित्रित करना, जिससे शिक्षार्थी को उसके इरादों का संकेत मिलता है। हर्स्ट एवं पीटर्स ने एक शर्त “तैयारी” की भी रखी। शिक्षार्थियों को उम्र और सामर्थ्य के हिसाब से अपेक्षित विषयवस्तु सीखने के लिए तैयार रहना होगा। शेफ्लर इन दोनों को इस विचार में जोड़ते हैं कि शिक्षक को ऐसी गतिविधियों में व्यस्त होना होगा जिनके माध्यम से वह सीखना हो पाए जिसके होने का इरादा है। लेकिन उन्होंने यह भी जोड़ा कि शिक्षक द्वारा जो कुछ भी किया जाता है, वह व्यवहार और तौर-तरीकों की कुछ सीमाओं के तहत ही हो - उदाहरण के लिए, यातना या घुट्टी-पिलाई की अनुमति न हो।

इस तरह के विश्लेषणों में तकनीकी मुश्किलें हैं, जिनसे शिक्षण का एक अन्य पहलू प्रदर्शित होता है। इन कठिनाइयों का संबंध सहायक शर्तों के बोझ से है। उदाहरण के लिए, हम मान कर चलते हैं कि एक व्यक्ति इस उद्देश्य से कि सीखना हो पाए, यातना देने और घुट्टी-पिलाई को छोड़ कर वह सब कर रहा है जो हमारे विचार से इसके लिए किया जा सकता है। इस शर्त के पूरा होने पर सम्भावना है कि सीखना हो पाएगा। लेकिन सवाल उठता है कि अगर सहायक शर्तों की पूर्ति की वजह से ऐसा हो पाता है तो हमें इरादे के होने से सम्बद्ध मूल शर्त की जरूरत क्यों है?

हम इसे बस एक 'तकनीकी' मुश्किल कहते हैं क्योंकि असल में तो हम सहायक शर्तों के पूरा होने की आशा तब तक नहीं करेंगे जब तक कि मूल, प्रारम्भिक शर्त पूरी न कर ली जाए। और नीति के तौर पर हम अपनी शैक्षिक संस्थाओं में ऐसे शिक्षक चाहते हैं जो इरादा रखते हों कि लोग सीखें और यह सुनिश्चित करने के लिए कि यह सीखना हो पाए, वे हर सम्भव प्रयास करें। लेकिन आने वाली कठिनाई से संकेत यह मिलता है कि गैर-इरादतन शिक्षण भी हो सकता है। यह शिक्षा के अक्सर उपेक्षित रहने वाले विभिन्न पहलुओं के लिए महत्वपूर्ण हो सकता है। उदाहरण के लिए, यह दलील तो कम से कम दी जा सकती है कि नैतिक शिक्षा केवल निर्देश देने के बजाए साथ नजीर पेश करने से होती है या फिर नजीर के साथ निर्देश देने से। जब उनके आस-पास के लोग ईमानदारी, दया, न्यायप्रियता के गुणों के उदाहरण स्वरूप उनके सामने होते हैं तो बच्चे भी ईमानदार, दयालु या न्यायप्रिय होना सीखते हैं। लेकिन लगता है कि इस तरह के उदाहरण से इस सम्भावना का समावेश नहीं हो पाता कि प्रमुख इरादा सम्बद्ध गुण को हस्तान्तरित करने का हो। अगर आप केवल इसलिए दयाभाव से व्यवहार करते हैं कि आप चाहते हैं कि कोई दूसरा आप की नकल करे, तो आप द्वारा सिखाया जाने वाला सबक वास्तव में दया के बारे में न हो कर छल और बर्झमानी के बारे में हो जाता है। हम इस अन्तर्दृष्टि को शिक्षा के भीतर ही विषयों के सामान्य शिक्षण पर भी लागू कर सकते हैं। एक अच्छा शिक्षक आशा करता है कि उसके छात्र अमुक विषयों को महत्वपूर्ण समझना सीखेंगे, उनके साथ लगाव पैदा करेंगे। लेकिन लगाव की यह बात एक बार फिर इस संभावना को रोकती है कि मूल उद्देश्य छात्र को लेकर हो न कि अपने विषय के साथ शिक्षक के रिश्ते को लेकर। अगर शिक्षक ध्यान इस बात पर केन्द्रित कर रहा है कि छात्र देखें और विषय के प्रति शिक्षक के लगाव से प्रभावित हों, तो लगता है कि जिस बात की ओर असल में ध्यान देने की जरूरत है, वे उस उचित ध्यान-केन्द्रण को खो चुके होंगे - दूसरे शब्दों में, ध्यान के केन्द्र में विषय की बजाए शिक्षक का उसके प्रति लगाव आ गया है।

हम उपरोक्त बातों को उत्तरदायित्व के अर्थ में ले सकते हैं। छात्रों के सीखने की जिम्मेदारी शिक्षकों की है और यह जिम्मेदारी उपयुक्त इरादे रखने तक ही नहीं, उससे आगे तक की बनती है। हो सकता है कि शिक्षक की ओर से इरादा न होने पर भी उनके छात्र उनसे कुछ सीखते हों - उदाहरण के लिए यह, कि सोमवार सुबह बुरे स्वभाव में होना कुछ गलत बात नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है - जैसा कि कुछ का मानना है (देखें क्लेइनिंग 1982) - कि छात्रों के सीखने की सम्पूर्ण जिम्मेदारी शिक्षकों की है। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि अगर छात्र सीखते नहीं हैं, तो शिक्षक किसी न किसी रूप में बेपरवाह रहा होगा। बेपरवाही में होने वाला नुकसान ऐसा होता है जिससे बचा जा सकता है लेकिन वह अनजाने में, नुकसान करने का इरादा न होने पर भी हो जाता है। इस मामले में नुकसान किसी के कुछ न सीख पाने का है। इस नाकामी में बेपरवाही का संकेत तो हो सकता है लेकिन बेपरवाही की बात से बचाव केवल इस बात में नहीं है कि नुकसान नहीं हुआ - उसके लिए यह भी दिखाना होगा कि उससे बचना संभव नहीं था। इस प्रकार अगर शिक्षक यह दिखा सकता है कि उसने अंजाम से बचने के लिए हर संभव प्रयास किया था, तो समझो उसने प्रदर्शित कर दिया कि दोष उसका नहीं है। लेकिन अगर हम शिक्षकों के दायित्व की बात को गम्भीरता से लेते हैं और हमारे पास छात्रों के लगातार न सीख पाने के - या अनुपयुक्त बातें सीखने के - मामले हैं, तो ऐसी स्थिति में हमें मांग करनी होगी कि दोष न होने की बात को सिद्ध किया जाए।

सीखना

शिक्षण और सीखने में शामिल सीखने को कैसे देखें? जैसा कि हमने अध्याय के शुरू में जिक्र किया था, शिक्षा के दार्शनिकों-विद्वानों ने इस विषय पर एक अजीब-सी चुप्पी अख्तियार कर रखी है। 'सीखने' की अवधारणा का विश्लेषण अपेक्षाकृत सीधा सा मामला प्रतीत होता है। इस मामले में मानक यह है कि एक व्यक्ति वह ज्ञान हासिल करता है जो उसके पास पहले नहीं था। यह ज्ञान कुछ बातों के बारे में सुपरिचित होने से सम्बद्ध हो सकता है (जैसे, मैं जानता हूँ कि 'क' देखने में कैसा है); या कथनात्मक ज्ञान हो सकता है (उदाहरण के लिए, मुझे किसी कथन के सत्य की जानकारी है, जैसे कि - हेस्टिंग्स का युद्ध 1066 में हुआ था); या फिर यह कार्य विधीय ज्ञान हो सकता है यानी कुछ कैसे करना है से संबद्ध ज्ञान, जैसे कि साइकिल कैसे चलानी है। क्योंकि ज्ञान के सभी रूपों में सटीकता का विचार निहित है, यानी किसी बात तक बिल्कुल सही तौर पर पहुंचना, इसलिए मानकीय उदाहरण में भी ऐसी सटीकता शामिल रहती है। उदाहरण के लिए, अगर कुछ लोग दावा करते हैं कि वे 'जो ब्लॉग्स' नामक व्यक्ति की शक्ति से परिचित हो गए हैं, तो हम आशा करेंगे कि वे जो ब्लॉग्स को पहचान पाएंगे। अगर उनका दावा है कि उन्हें हेस्टिंग्स के युद्ध की तारीख का ज्ञान है, तो हम दोनों बातें मान कर चलेंगे - कि यह युद्ध 1066 में ही हुआ था, और जब उनसे पूछा जाएगा कि यह कब हुआ, तो वे उपयुक्त और सही जवाब दे पाएंगे। अगर कोई दावा करता है कि उसने साइकिल चलाना सीख लिया है, तो हमारी आशा होगी कि वह हमें साइकिल चला कर दिखा सकेगा। हां, यह संभव है कि इन सब मामलों में किसी ने कुछ सीखा तो हो, मगर हमें प्रमाण दिए बिना कि ऐसा ही है - उदाहरण के लिए, वे यह स्वीकारने से इंकार कर सकते हैं कि अमुक व्यक्ति जो ब्लॉग्स है या फिर वे युद्ध के बारे में किसी सवाल का जवाब देने से मना कर सकते हैं या साइकिल पर चढ़ने से इनकार कर सकते हैं। लेकिन इस तरह के मामले किसी न किसी रूप में निम्न स्तरीय, खराब तरह के होंगे। जब तक हम विश्वसनीय तौर पर जांच न सकें कि किसी ने अधिकतर समय कुछ सीखा था या नहीं (और यह बात हमारे सीखने और दूसरों के सीखने, दोनों पर लागू होती है) तो सीखना क्या होता है के बारे में हकीकत में हमारे विचारों की कोई पक्की पकड़ नहीं बनेगी।

निम्नस्तरीय, खराब तरह के सीखने के अन्य उदाहरण भी हैं। जिस प्रकार हमें किसी बात के बारे में सूचना दी जा सकती है (मसलन जो ब्लॉग्स कैसा दिखता है, या युद्ध के साल के बारे में), उसी तरह हम भ्रमित भी हो सकते हैं - हम सोच सकते हैं कि हम जानते हैं, जबकि असल में हम नहीं जानते। यही बात कार्य विधीय ज्ञान पर लागू होती है - हमें लग सकता है कि हमें मालूम है कि कुछ कैसे करना है, लेकिन उसे कर पाने में सक्षम हुए बिना।

हालांकि ऊपर चर्चा में आए मानक उदाहरण में सीखने की सफल उपलब्धि की बात निहित है, लेकिन शिक्षकों की दिलचस्पी ज्ञानार्जन की प्रक्रियाओं में भी होती है। इस प्रकार, अगर मैं इंग्लैण्ड पर जीत हासिल करने के लिए विजेता विलियम के मोरचे का विवरण जान गया हूँ तो मैं हेस्टिंग्स के युद्ध की तारीख भी जान जाऊंगा। दूसरी ओर, अगर मैं इस मोरचे के बारे में अभी जानने-सीखने की प्रक्रिया में हूँ, तो हालांकि संभावना है कि मुझे कुछ प्रासंगिक तथ्यों की जानकारी होगी, तो भी सीख रहे होने के अपने दावे को बनाए रखने के लिए मेरे पास किसी विशेष प्रासंगिक तथ्य का होना जरूरी नहीं है। यहां, जैसे कि अन्यत्र भी, मानक उदाहरण हमारे लिए पथ-निर्देश उपलब्ध करवाता है। अगर हमें मालूम न हो कि सीखने की उपलब्धि कैसी दिखती है, तो हमारे पास सीखने की प्रक्रियाओं को चिह्नित करने का भी कोई तरीका न होगा। यह कह पा सकने के लिए कि बच्चे सीखने की गतिविधियों में लगे हुए हैं, हमें यह अंदाजा होना होगा कि बच्चों के लिए सफलतापूर्वक सीखने का अर्थ क्या होगा।

मामला शायद यह है कि सीखने की अवधारणा एक अनगढ़ अवधारणा है। यानी इंसानों के और कुछ अन्य जानवरों के भी जीवन को हम सीखने की उनकी सामर्थ्य के अर्थ में तो समझा सकते हैं, लेकिन हम शायद इस सामर्थ्य को व्याख्यायित न कर पाएं। ऐसा करने की किसी भी कोशिश के तहत संभवतः होगा यह कि जिसकी व्याख्या की जानी है, उसी को मान लिया जाए। उदाहरण के लिए, मान्यता है कि आधुनिक समय में शिक्षकों को एक अनिवार्यता का

पालन करना होगा - छात्रों को प्रोत्साहित करने की अनिवार्यता कि वे “सीखें कि कैसे सीखना है” (इसका मूल शायद डी-स्कूलिंग की मुहिम में है, देखिए बैरो 1978, अध्याय 7)। लेकिन ऐसा विचार सीधे तौर पर यह मान कर चलता है कि विद्यार्थी सीख सकते हैं कि कैसे सीखना है। इस शुरुआती मान्यता के बिना कि सीखने की यह आधारभूत सामर्थ्य मौजूद है, अनिवार्यता का कोई अर्थ न रह जाएगा यानी आधारभूत सामर्थ्य होने की सूरत में ही ‘सीखें कि कैसे सीखना है’ की अनिवार्यता पूरी हो पाएगी।

हो सकता है, शिक्षा-दार्शनिकों ने इस बात को समझते-पहचानते हुए कि सीखना एक अनगढ़ अवधारणा है, इस विषय पर अपेक्षाकृत चुप्पी साधे रखी। आखिरकार अगर अपने समर्पित अर्थ में यह अनगढ़ है, तो बहुत कुछ कहने को रह ही नहीं जाता। लेकिन इससे अन्य लोग ज्ञानार्जन के सिद्धांत स्थापित करने की कोशिश करने से नहीं रुके। बीसवीं सदी में ऐसे सिद्धांत व्यवहारवाद और बोधवाद जैसे मनोविज्ञान-आधारित सिद्धांतों के इर्द-गिर्द एकत्र हुए हैं। अगर ये सिद्धांत विश्वसनीय हैं तो शायद ये सफलता पूर्वक सीखने के लिए सहायक शिक्षण के नजरियों को पैदा करें। लेकिन यह मान कर चलने के लिए बहुत अच्छे कारण दिखाई देते हैं कि ऐसे दृष्टिकोण विश्वसनीय नहीं हैं (देखिए विंच 1998) और यह तो पक्की ही बात है कि अब तक ऐसे किसी सिद्धांत ने शिक्षण के प्रति इस प्रकार के नजरियों को जन्म नहीं दिया है। बल्कि हमें अधपके विचारों को बढ़ावा मिलता दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, यह विचार कि हमारा उद्देश्य ‘सक्रिय’ सीखना होना चाहिए, या तो इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि हर तरह के सीखने को स्वभावतः सक्रिय होना ही होता है, यानी उसमें मानसिक परिवर्तन शामिल ही होता है; या बैठ कर लेक्चर सुनना, पुस्तक पढ़ना जैसी कुछ गतिविधियों को निष्क्रिय कहते हुए वह इस बात की उपेक्षा करता है कि ऐसी परिस्थितियों में भी काफी सीखना हो रहा होता है। (विडम्बना यह है कि ‘सक्रिय’ सीखने की वकालत करने वाले ये लोग लेक्चरों और किताबों के माध्यम से अपनी बात का प्रचार कर रहे होते हैं)।

सीखना अनगढ़ तो हो सकता है लेकिन यह बिना शर्त नहीं हो सकता। सीखने के उन सब मानक उदाहरणों में, जो हमने दिए हैं - और अन्तर्निहित रूप से ऐसे सीखने को सम्भव बनाने वाले शिक्षण में - यह बात शामिल है कि शिक्षार्थी किसी न किसी बात में पहले से बेहतर स्थिति में होगा। इसलिए सब मामलों में शिक्षार्थी अज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़ता है। और कम से कम सैद्धांतिक तौर पर तो हम जान सकते हैं कि ऐसी प्रगति हुई है। सीखना स्वभाव से ही प्रगतिशील होता है। जहां यह प्रगति सम्भव न हो, वहां सीखना भी नहीं हो सकता।

ऊपर दर्ज किए गए अंतिम वाक्य को एक घिसी-पिटी, बार-बार दोहराई गई बात के रूप में लिया जा सकता है हालांकि शिक्षा के बड़े हिस्सों में इसकी उपेक्षा होती दिखती है। उदाहरण के लिए, मूल्यों से संबद्ध दर्शनशास्त्र के पाठ्यक्रम (जैसे कि नैतिक दर्शनशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र) पढ़ाने के हमारे अनुभव के आधार पर हमें ऐसा लगता है कि कला और साहित्य जैसे विषय पढ़ लेने के बाद बहुत बड़ी संख्या में विद्यार्थी जब स्कूल से निकलते हैं तो वे इस बात के कायल हो चुके होते हैं कि ऐसे विषयों से संबद्ध मूल्य व्यक्ति परक और भावात्मक होते हैं। एक बहुत ही कच्चे तौर पर देखें तो यह कहना कि फलां कलाकृति या क्रिया अच्छी है, बस यह कहने के बराबर है कि वह आपको पसन्द है। और यह कहना कि ‘क’ ‘ख’ से बेहतर है, दूसरे ढंग से यह कहना है कि आप ‘ख’ की बजाए ‘क’ को अधिक महत्व देते हैं।

हो सकता है कि ऐसी व्यक्तिपरकता सच में हो, कि कला में या अन्यत्र वस्तुपरक मूल्य हों ही नहीं (मगर देखें गिंगेल और ब्रैण्डन 2000, अध्याय 3)। लेकिन अगर यह सच है तो इसका अर्थ यह हुआ कि उन क्षेत्रों में कोई ज्ञानार्जन नहीं हो सकता जिनके लिए यह सच है। अगर सभी मूल्य आम तौर पर पसन्द की ही बात हैं, और अगर प्रत्येक पसन्द किसी अन्य पसन्द जितनी ही अच्छी है, यानी इन पर कोई वस्तुपरक मानक लागू नहीं किया जा सकता, तो एक बेहतर आकलनकर्ता बनना सीखना असंभव हो जाता है। और इसका अर्थ यह निकलता है कि शराब की गुणवत्ता परखने से लेकर कला के इतिहास या अंग्रेजी साहित्य में डिग्री हासिल करने तक की सब गतिविधियां जो मान कर चलती हुई लगती हैं कि ऐसी प्रगति संभव है, समय की बरबादी के अलावा कुछ भी नहीं हैं। हां, यह तो हो सकता है कि

इस प्रकार की गतिविधियों में भाग लेने से एक व्यक्ति की पसन्द बदल जाए, लेकिन क्योंकि इस सिद्धांत के अन्तर्गत प्राथमिकताओं का एक समूह किसी भी अन्य समूह से बेहतर नहीं हो सकता, तो ऐसा बदलाव इस लायक दिखाई नहीं देता कि उसे बेहतर का नाम दिया जा सके। और इसलिए वह उसमें शामिल कड़ी मेहनत को उचित सिद्ध करता नहीं दिखाई देता।

इस दृष्टिकोण को कुशलता की शब्दावली और अर्थ में व्यक्त किया जा सकता है। शिक्षण और सीखने में शिक्षक द्वारा अपनी कुशलता को सीखने वाले तक हस्तांतरित किया जाना या ऐसा करने की कोशिश शामिल है। व्यक्तिपरकता का दावा है कि जहां तक मूल्यों की बात है, कोई एक व्यक्ति किसी अन्य से अधिक कुशल नहीं हो सकता - दूसरे शब्दों में अगर हर कोई बराबर का कुशल है तो कुशलता का विचार पूरी तरह अप्रासंगिक हो जाता है। लेकिन अगर ऐसा है तो कुशलता को हस्तांतरित करना या अधिक कुशल बनने की कोशिश करना असंभव हो जाता है।

ज्ञान की किस्में

हम पहले ही ज्ञान की उन किस्मों की बात कर चुके हैं जो हम आशा करते हैं कि शिक्षा के भीतर विद्यार्थियों द्वारा विकसित की जाएंगी। ये हैं जानकारी आधारित ज्ञान, कथनात्मक ज्ञान यानी इस बात का ज्ञान कि कोई प्रस्तावित कथन सत्य है या झूठ, और कार्य विधीय ज्ञान यानी कुछ करने का या तकनीकी ज्ञान। हालांकि इन तीनों प्रकार के ज्ञान की तह कुछ हद तक एक दूसरे पर आती है/यानी तीनों में कुछ-कुछ समानता भी है, लेकिन इनमें से किसी भी एक किस्म को किसी अन्य तक संक्षिप्त या सीमित नहीं किया जा सकता। कई कोशिशें (उल्लेखनीय तौर पर 1960 तथा 1970 के दशकों में पॉल हर्स्ट द्वारा) हुईं कि किसी एक किस्म को शिक्षा के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण होने के रूप में स्थापित किया जाए (इस मुद्दे से संबद्ध लेखों के संग्रह के लिए देखिए, हर्स्ट 1974)। हर्स्ट की दलील थी कि अगर हम शिक्षा को तर्क बुद्धि के विकास के तौर पर देखें और फिर ऐसे मस्तिष्क की विषयवस्तु के बारे में पूछें तो हम पाएंगे कि यह विषयवस्तु पिछली कई सदियों में विकसित ज्ञान के विभिन्न रूपों से बनी है। हर्स्ट का दावा था कि ज्ञान का प्रत्येक रूप उस रूप के लिए विशेष तौर से समर्पित केन्द्रीय धारणाओं को साकार करेगा - जैसे, विज्ञान में गुरुत्वाकर्षण और गतिवर्धन, धर्म में ईश्वर और पाप, नैतिक ज्ञान में अच्छा और बुरा। प्रत्येक में एक अलग से दिखाई देने वाला तार्किक ढांचा होगा जो तय करेगा कि ज्ञान के उस रूप के भीतर रहते हुए क्या कहा जा सकता है और क्या नहीं। सबसे महत्वपूर्ण यह कि प्रत्येक में ऐसी अभिव्यक्तियां होंगी जिनकी सत्यता को किसी घटना की कसौटी पर जांचा जा सकता है। इस अन्तिम शर्त से यह प्रकट होता है कि यह सिद्धांत कथनात्मक ज्ञान से संबद्ध है। इस सिद्धांत से परिचित करवाने वाले लेख (हर्स्ट 1965ए) में हर्स्ट के अनुसार कथनात्मक ज्ञान के मूलतः आठ रूप हैं; गणित, भौतिक-विज्ञान, मानव-विज्ञान, इतिहास, धर्म, साहित्य और ललित कलाएं, दर्शनशास्त्र, नैतिकता। हर्स्ट ने कभी यह दावा नहीं किया कि स्कूल में ज्ञान के केवल इन आठ रूपों का ही अध्ययन हो। उन्होंने अन्य गैर-अकादमिक सरोकारों के लिए भी गुंजाइश छोड़ी। यह दावा भी कभी नहीं किया कि इनमें से प्रत्येक को उसके पवित्र रूप में ही देखना-जानना होगा। इन रूपों को जोड़ कर, साथ लाकर, 'ज्ञान के क्षेत्रों' में अध्ययन किया जा सकता है - उदाहरण के लिए भूगोल, जिसकी जड़ें भौतिक एवं मानव-विज्ञान में हैं, ऐसा ही एक क्षेत्र है।

यह सच है कि हर्स्ट का सिद्धांत अकादमिक पाठ्यचर्या के लिए एक स्पष्ट और सुव्यवस्थित आधार प्रदान करता प्रतीत होता था। लेकिन जाहिर है कि यह तब ही होगा, अगर सिद्धांत टिकाऊ और विश्वसनीय हो। और सिद्धांत के टिकाऊ तथा विश्वसनीय होने पर भरोसा इसलिए कमजोर रहा कि स्वयं हर्स्ट को यह निर्णय लेने में मुश्किल होती लग रही थी कि क्या ज्ञान का रूप है और क्या नहीं। 1965 में उन्होंने एक लेख (हर्स्ट 1965बी) प्रकाशित किया जिसमें दलील दी गई कि धर्म ज्ञान का रूप न तो है और न हो सकता है। इसके बाद इस सिद्धांत की अभिव्यक्ति इस रूप में की गई कि मानव-विज्ञान और इतिहास को मिला कर 'स्वयं का और अन्य लोगों का ज्ञान' बना दिया गया। दर्शनशास्त्र के एक हिस्से को गणित की ओर सरका दिया गया और अब यह 'तर्कशास्त्र तथा गणित' बन गया। लेकिन यह सिद्धांत निरन्तर आलोचना का विषय भी रहा (उदाहरण के लिए, देखिए बैरो 1976; गिंगेल 1985), जिसका उद्देश्य यह दिखाना

था कि इस सिद्धांत की ज्ञानमीमांसीय बुनियाद एक गलत धारणा पर आधारित थी और इसमें ज्ञान के कुछ मानित रूपों को जैसे कि धर्म, नैतिकता और खास तौर से साहित्य और ललित कलाओं को ज्ञान का मिथ्या दावेदार बताया गया है। हर्स्ट ने सीधे तौर पर कभी भी इन हमलों का जवाब नहीं दिया लेकिन 1990 के दशक में (देखें हर्स्ट 1993) उन्होंने सिद्धांत को निरस्त कर दिया - क्योंकि उन्हीं का दावा था कि इसमें कुशलता और सांस्कृतिक हस्तांतरण की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है।

जब कथनात्मक ज्ञान पर बल देने वाला हर्स्ट का सिद्धांत अपना केन्द्रीय महत्व खोने लगा था तभी बिल्कुल अलग बात पर बल देने वाला एक अन्य सिद्धांत उसका स्थान लेने की चुनौती के साथ सामने आया। इसमें एक ऐसी विशिष्टता पर आधारित ज्ञान का वृत्तांत था जिसके हक में मूलतः गिल्बर्ट राइल की उत्कृष्ट पुस्तक *द कॉन्सेप्ट ऑव माइन्ड* (1949) में दलील दी गई थी। अपनी उस कृति में राइल इंसान के मस्तिष्क में कथनात्मक ज्ञान की भूमिका को स्वीकारते हैं लेकिन साथ ही तर्क देते हैं कि इतनी ही बड़ी भूमिका कार्य विधीय ज्ञान यानी दक्षता की भी होती है, जिसे प्रस्तावात्मक कथनों के ज्ञान तक सीमित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार, साइकिल चलाने और तैरने संबंधी हमारा ज्ञान मूलतः व्यावहारिक है और इसलिए इसे व्यवहार में ही जांचा जा सकता है। इसकी जांच साइकिल चलाने या तैराकी के संबंध में प्रस्तावित सत्य कथनों की किसी सूची को उच्चारित करने मात्र से तो नहीं हो सकती। जो बात हर्स्ट के सिद्धांत की ताकत का आभास दिलाती थी, वह ज्ञान, सत्य और तार्किकता के बीच जाहिरा तौर पर स्थापित किए गए निकट संबंध की बात थी। राइल के सिद्धांत की ताकत कुशलता और बुद्धि के बीच स्थापित किए जा सकने वाले संबंध में प्रतीत होती है। इस तरह, राइल का तर्क था (देखिए, राइल 1974) कि तथ्यों की जानकारी - यानी कथनात्मक ज्ञान - बुद्धि को प्रदर्शित नहीं करती बल्कि वह तो जिन तथ्यों पर आपका नियंत्रण है, उन्हें व्यवस्थित किए जाने में प्रदर्शित होती है। उदाहरण के लिए, बहुत मुमकिन है कि एक तरह के कई तथ्यों की जानकारी वाले व्यक्ति के मुकाबले जिस व्यक्ति को कम तथ्यों का ज्ञान है, वह इनका इस्तेमाल अधिक बेहतर तरीके से कर सके। शिक्षा के लिए इस तरह के सिद्धांत की अपील स्पष्ट ही होनी चाहिए। व्यावहारिकता पर इसका बल सत्य के ज्ञान के क्षेत्र से भी आगे की शैक्षिक सम्भावनाओं को खोलता है, तो शिक्षा में व्यावहारिक होने को भी उतना ही स्थान क्यों न मिले जितना कि सत्य का ज्ञान होने को। लेकिन इससे हमें यह भी जान पड़ता प्रतीत होता है कि हमारा बल विषयों के भीतर किस बात पर होना चाहिए। जिस तरह गणित में हमारा सरोकार होता है कि बच्चे बस कुछ गणितीय सत्य ही न सीखें बल्कि वे सीखें कि गणित कैसे करना है (जैसे कि पहाड़े), उसी तरह यह सिद्धांत हमें बताता है कि बच्चों को सिर्फ ऐतिहासिक और वैज्ञानिक तथ्य ही नहीं सीखना चाहिए बल्कि उन्हें यह भी जानना चाहिए कि इतिहास या विज्ञान कैसे करना है (कम से कम यह तो तर्कसंगत है कि हर्स्ट में भी इस प्रकार की प्रक्रियाओं पर कुछ बल दिया गया है)।

बल किस बात पर दिया जाना है, इस बारे में यह परिवर्तन पिछले 20 सालों में अंग्रेजी शिक्षा की (यह लेख इंग्लैंड के संदर्भ में लिखा गया है) एक स्वागत योग्य विशेषता रही है, हालांकि इसका पदार्पण एक भ्रामक बैनर के तहत हुआ (जिसके बारे में हम आगे चल कर बात करेंगे)। लेकिन इस बल से बहुत सावधानी से जूझना होगा। एक खतरा तो यह है कि बच्चे बहुत सा समय किसी एक विषय पर इस रूप में बरबाद कर रहे हो सकते हैं कि बहुत कुछ प्रयास करने के बाद भी वे पहुंचें वहीं जहां वे पहले थे, यानी पुरानी ही बात को फिर से सीख रहे हों। जहां एक ओर हम चाहते हैं कि बच्चे जानें कि गणित या इतिहास कैसे करना है, वहीं ऐसे विषयों में मूल तथ्य - उदाहरण के लिए, गुणा के पहाड़ों या घटनाओं का एक उचित सिलसिले वार क्रम - इस जानने में कोई बाधा नहीं बनते बल्कि एक अच्छा व्यावहारिक साधन ही होते हैं। दूसरी बात, राइल की दलीलों के बावजूद, हम अपने छात्रों को सही सवाल पूछना सिखाना शुरू कर सकते हैं - जैसे, किसी कविता के बारे में या इतिहास से संबद्ध मूल स्रोतों के बारे में। बहुत संभावना है कि उन्हें ऐसे सवालों के संतुष्टि पूर्ण जवाब तथ्यात्मक ज्ञान की पृष्ठभूमि के बिना नहीं मिल पाएंगे। उदाहरण के लिए, इतिहास के विद्यार्थियों को उन्नीसवीं सदी के लैंकाशर में औद्योगिकरण से संबद्ध स्रोत-सामग्री प्रदान की जा सकती है और वे दस्तावेजों को आलोचनात्मक दृष्टि से देखना भी शुरू कर सकते हैं, लेकिन वे तब तक इस सामग्री के बारे में एक तर्क संगत मूल्यांकन तक नहीं पहुंच पाएंगे जब तक उनके पास देश में अन्य जगहों पर चली औद्योगिकरण

की प्रक्रिया का ज्ञान न हो। तीसरी बात यह, कि जहां एक ओर यह अच्छा लगता है कि साहित्य के विद्यार्थी, उदाहरण के लिए कविता पर, स्वयं के विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं न कि स्थापित आलोचकों की राय, इसमें कोई शक नहीं कि बहुत बार जब हम अन्य लोगों के विचारों के बारे में सोच रहे होते हैं, तब ही, उनकी मदद से, अपने विचारों तक भी पहुंचते हैं। यह भी निश्चित ही है कि शैक्स्पियर या वर्ड्सवर्थ की विलक्षण प्रतिभा को जानने-समझने के लिए आपको उनसे पहले के साहित्यकारों या समकालीनों को समझना होगा।

ऊपर की बात से प्रदर्शित होता है कि व्यावहारिक या कार्य विधीय ज्ञान शिक्षा का उचित केन्द्र-बिन्दु हो सकता है लेकिन इसे अन्य प्रकार के ज्ञान के साथ संतुलन में चलना होगा। कथनात्मक ज्ञान बहुत बार ऐसे ज्ञान के विकसित होने और फलने-फूलने के लिए एक संदर्भ प्रदान करता है, और जानकारी- आधारित ज्ञान वे चीजें प्रदान करता हुआ दिखाई देता है - जैसे कि कविताएं या ऐतिहासिक स्रोत-सामग्री के हिस्से - जो अन्य प्रकार के ज्ञान को विकसित होने में मदद करती हैं।

अकेले कार्य विधीय ज्ञान पर ध्यान केन्द्रित करने का एक और खतरा है। हालांकि जैसा कि हमने ऊपर कहा है, इस पर बल देने से पाठ्यचर्या को विस्तार देने का एक अच्छा मौका मिलता है, लेकिन अगर इसे अकेले तौर पर लिया जाए तो खतरा है कि पाठ्यचर्या आवश्यकता से अधिक विस्तृत और बहुत छिछली बन सकती है। इस तरह के ज्ञान में बिस्तर कैसे लगाना है की जानकारी से लेकर दर्शनशास्त्र या नाभिकीय भौतिकी तक का लम्बा-चौड़ा विस्तार है। और जब तक हमारे पास यह तय करने के कोई तरीके नहीं हैं कि इनमें से किसे औपचारिक शिक्षा में शामिल रखना है, तो हम एक विशाल, आकार हीन और अक्सर महत्वहीन पाठ्यचर्या का सामना कर रहे होंगे। इसलिए हमें यह भी देखना होगा कि किस तरह की सांस्कृतिक सीमाओं का ध्यान रखना है - जिनका जिक्र हमने पाठ्यचर्या से संबद्ध अध्याय¹ में किया है। इस प्रकार हम सुनिश्चित कर सकते हैं कि बच्चे जानना शुरू करें कि उन्हें किन्हीं विशेष गतिविधियों में व्यस्त कैसे रहना है - लेकिन साथ ही यह भी सुनिश्चित करना होगा कि चुनी गई गतिविधियां उन्हें व्यस्त रख सकने लायक हों।

ऊपर हमने कहा है कि कार्य विधीय ज्ञान ने शैक्षिक क्षेत्र में एक भ्रामक बैनर के तहत प्रवेश किया। हालांकि इस तरह के ज्ञान के विकास का सरोकार राइल के काम से पैदा हुआ, पिछले बीस साल से शिक्षा के गलियारों में कई स्तरों पर दिखाई दे रहे इस सरोकार का परिचय अक्सर 'कौशल' के नाम से दिया जाता है। उदाहरण के लिए, प्राइमरी स्कूलों के शिक्षकों को अक्सर अपने विद्यार्थियों के पठन, लेखन, बोलने तथा सुनने के कौशलों पर ध्यान देने को कहा जाता है और विश्वविद्यालयों के विभागों को विषय-विशेष पर तथा हस्तांतरित हो पाने वाले उन कौशलों पर ध्यान देने को कहा जाता है जिनके बारे में विद्यार्थियों से अपेक्षा की जाती है कि वे उन्हें विकसित करें। राइल द्वारा कही गई बात को काफी हद तक - और आराम से - दक्षता के इस विचार की संगति में देखा जा सकता है, लेकिन उनकी कही गई बात का एक हिस्सा इसके अनुरूप नहीं है। और उल्लेखनीय बात यह है कि राइल स्वयं कार्य विधीय ज्ञान और दक्षता को चिह्नित करने हेतु कुछ भी प्रोत्साहन नहीं देते। इसका कारण यह हो सकता है कि ये दोनों अवधारणाएं आंशिक तौर पर एक-दूसरे से समानता रखती हैं। 'कौशल' संबंधी इस चर्चा पर सहमति नहीं है (बैरो 1987; स्मिथ 1987)। लेकिन यह संभव प्रतीत होता है कि 'कौशल' की अवधारणा का कोई भी तर्कसंगत प्रयोग किसी न किसी रूप में किसी न किसी कार्य के कुशलता पूर्वक प्रदर्शन के विचार पर आधारित होगा। लेकिन यदि ऐसा है तो 'कौशल' संबंधी यह चर्चा भ्रामक हो जाती है। यह तो सही है कि कुछ बातें कैसे की जानी हैं, यह कम या अधिक कुशलता के साथ सिखाया जा सकता है। यह सिखाया जा सकता है कि कविता का विश्लेषण कैसे किया जाता है या साइकिल कैसे चलाई जाती है। इस सिलसिले के नीचले छोर पर केवल कारीगर की तरह के प्रदर्शन और काम होंगे जबकि ऊपरी छोर पर ये प्रदर्शन और काम एफ.आर. लीविस या लांस आर्मस्ट्रॉंग जैसे पेशेवरों के करीब जा पड़ेंगे। लेकिन ऐसे मामलों में भी शिक्षक का सरोकार शायद इस बात से न हो कि कितनी ऊंचाइयों तक पहुंचा जा सकता है। साइकिल-प्रशिक्षक स्वयं को इतने में ही कामयाब मान सकता है कि उसका शिष्य साइकिल चलाते हुए, उससे उतरे बिना, सार्वजनिक सड़क

के यातायात को सफलतापूर्वक पार कर जाए - वह शायद अपने शिष्य से यह उम्मीद या अपेक्षा नहीं रखेगा कि वह दूर द फ्रांस जीत ले। लेकिन जहां तक कौशल संबंधी चर्चा के तहत एकत्र कुछ प्रसंगों में प्रदर्शन की बात है, इस तरह की भिन्नता की कल्पना करना मुश्किल है। उदाहरण के लिए कुछ लोग 'पुस्तकालयी कौशलों' की बात करते हैं जिससे उनका अर्थ पुस्तकालय में कोई पुस्तक तलाश पाने भर से है। यह समझ पाना सच में मुश्किल है कि किताब ढूंढने का काम कम या अधिक कुशलता के साथ कैसे किया जा सकता है? किसी विद्यार्थी द्वारा दर्शनशास्त्र पर लिखे गए निबंध को पुरस्कृत किया जाना पूरी तरह समझ में आता है लेकिन 'पुस्तकालयी कुशलता' के लिए इस तरह के पुरस्कार का विचार हास्यास्पद लगता है। यही बात 'ध्यान से सुनने के कौशलों' के बारे में भी कही जा सकती है। सामान्य, साधारण संदर्भ में जो उनसे कहा जा रहा होता है, लोग उसे ध्यान पूर्वक सुनते हैं - या नहीं सुनते। लेकिन वे ऐसा इसलिए नहीं करते क्योंकि वे कम या अधिक कुशलता के साथ सुन सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि लोगों को श्रवण-कर्म (ध्यानपूर्वक सुनना) नहीं सिखाया जाए या पुस्तकालय की पुस्तक विवरण-सूची इस्तेमाल करना न सिखाया जाए। हम बस इतना ही कह रहे हैं कि क्योंकि इस तरह के पाठों का कुशलता पूर्ण प्रदर्शन से कम ही सरोकार हो सकता है, इसलिए कौशलों से इनका संबंध संदिग्ध होता है।

सामर्थ्य और कौशल के बीच के अन्तर को देखें तो इस मामले से निपटा जा सकता है। बहुत बार अपने शिक्षण में हम इनमें से पहली बात को लक्ष्य बना रहे होते हैं। कई मामलों में तो बस यही बात है जिसे समझदारी से लक्ष्य बनाया जा सकता है। लेकिन कौशल संबंधी चर्चा में यह अन्तर हमारे लिए बिल्कुल भी मददगार नहीं होता। जब लोग 'परवाह' करने के कौशल या 'दोस्ती' के कौशल या 'धार्मिक' कौशलों की बात करने लगते हैं तो समझ पाना बहुत कठिन होता है कि इनका अर्थ क्या है। ऐसी चर्चाओं में न तो सामर्थ्य संबंधी और न ही कुशलता-संबंधी विचारों का कोई महत्व होता है। लेकिन अगर ऐसा है, तो संभावना यह है कि 'परवाह करने', 'दोस्ताना होने' और 'धार्मिक होने' के बारे में बात करने का एक और ही तरीका अपनाया जा रहा है जो पूरी तरह निरर्थक एवं अप्रासंगिक है। और क्योंकि यह निरर्थक एवं अप्रासंगिक है अतः हमें ऐसी चर्चा की कोई जरूरत नहीं है, जो मौजूदा विषय को सामने लाने की बजाए उसे धुंधलाती और अस्पष्ट करती हो। ◆

(यह लेख क्रिस्टोफर विंच और जॉन गिंगेल की किताब 'Philosophy & Educational Policy A Critical Introduction' से लिया गया है।)

क्रिस्टोफर विंच: इंग्लैण्ड के जाने-माने समकालीन शिक्षा दार्शनिक और किंग्स कॉलेज, लंदन में शिक्षा दर्शन के प्रोफेसर।

जॉन गिंगेल: यूनिवर्सिटी कॉलेज नॉर्थम्पटन में दर्शनशास्त्र के विभागाध्यक्ष हैं।

भाषान्तर : रमणीक मोहन

संदर्भ

1. Culture and curriculum; Philosophy & Educational Policy A Critical Introduction; Christopher Winch & Johan Gingell.